A Pratibha Spandan Journal

SWAR SINDHU
(National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music)
ISSN 2320–7175 (O) | Volume 14, Issue 01, January-June, 2026

उत्तराखंड के गढ़वाली लोकगीतों मे निहित शास्त्रीय तत्वों का सांगीतिक एवं सांस्कृतिक महत्व

Dr. Sharda Sehgal
Assistant Professor, Department of Music, M.K.P. (P.G.) College, Dehradun

Read the Article Online

OPEN ACCESS

Cite this Article

Published on 28 May, 2026

Sehgal, S. (2026). Uttarakhand Ke Garhwali Lokgeeton Me Nihit Shastriya Tatvon Ka Sangitik Evam Sanskritik Mahatva. Swar Sindhu, 14(1), 236-240.

सार

लोक संगीत भारतीय संगीत परम्परा की एक अद्भुत विधा है, जो मनुष्य की सहज अनुभूतियों और अंतः प्रेरणा से प्रस्फुटित हुई है। यह संगीत परम्परा जो युगों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से प्रवाहित हो रही है, इसकी सार्वभौमिकता सम्पूर्ण जनमानस में समान रूप से व्याप्त है। हिमशिखरों के आँचल में स्थित उत्तराखण्ड राज्य के गढ़वाली लोकगीत जनमानस के मनोभावों की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति को सुगमता व उन्मुक्त भाव से प्रदर्शित करने में विशेष भूमिका निभाते हैं। यहाँ की लोकधुनों की अपनी अनूठी ही छटा है जिसमें भारतीय शास्त्रीय संगीत की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। भारतीय सांस्कृतिक चेतना में इन लोकगीतों का स्थान अत्यंत अद्वितीय और महत्वपूर्ण है तथा इनमें निहित शास्त्रीयता का विशेष महत्त्व है क्योंकि शास्त्रीय संगीत के कई कालजयी रागों की उत्पत्ति इन्ही पारंपरिक लोकधुनों के गर्भ से हुई है। इतना ही नहीं, समय-समय पर देश के महान संगीत मनीषियों ने इन सहज लोकधुनों की गहराई को समझा और परिष्कृत करके इन्हें शास्त्रीय रागों के भव्य रूप में रुपांतरित किया है। ये गढ़वाली लोकगीत शास्त्रीय संगीत के आदि प्रेरणा स्त्रोत तथा हमारी समृद्ध सांस्कृतिक पौराणिक विरासत हैं, जिन्हें आत्मसात कर वर्तमान में जीते हुए भावी पीढ़ी को सौंपना हमारा परम कर्तव्य है। इस तथ्य का विस्तृत विवरण इस शोध पत्र में प्रस्तुत किया गया है।

बीज – शब्द: गढ़वाली लोकगीत, स्वरलिपि, शास्त्रीयता, पौराणिक विरासत, मौखिक परम्परा

भूमिका

विश्व का कोई भी जाति समूह अथवा वर्ग ऐसा नहीं होगा, जिसने अपने आनन्द की अनुभूति को संगीत में प्रदर्शित न किया हो । गुफाओं में विकसित होता आदिमानव जब ज्ञानवान हुआ और उसमें संवेगों का उदय हुआ, तब उसने उन्हें दर्शाने के लिए विकृत आलाप का सहारा लेना प्रारंभ कर दिया। यही आदि संगीत आगे चलकर लोक गीत कहलाएं जिनका मूल भाव जनसमुदाय की सहज अभिव्यक्ति में निहित है। समस्त मानव समुदाय के भीतर चेतन अथवा अचेतन रूप से स्थित भाव जो गीत बनकर अभिव्यक्त होते हैं, उन्हें लोकगीत कहा जाता है। लोकगीत किसी भी राष्ट्र, क्षेत्र या विशेष स्थान के सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का प्रतिबिंब होते हैं जिनका मुख्य आधार वें सामाजिक मान्यताएँ, रीतियाँ, उत्सव, प्यौहार तथा अन्य विशेष मूल्य ही हैं जिनका उपयोग सामाजिक व्यवहार में किया जाता है। लोक जीवन में गीत-संगीत हृदय-स्पन्दन के समान अंतःस्थित हैं जो मौखिक परम्परा के रूप में निरंतर प्रवाहित हो रहे हैं।

हिमालय की विराटता, शुचित्ता और भव्यतम प्राकृतिक स्वरूप के साक्षात्कार में उसकी गोद में अवस्थित उत्तराखण्ड राज्य के गढ़वाली लोकगीत यहाँ के जन-जीवन में स्वच्छन्द रूप से गूँजकर अपनी सांस्कृतिक पहचान को प्रकट करते हैं। इसलिए यहाँ गीत-संगीत की ऐसी समृद्ध परम्परा है जो धार्मिक अनुष्ठानों, घड़ियाला, जन्म, विवाह, वनों तथा खेतों में व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होती है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद बलोदी ने इन लोकगीतों पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है, "पर्वतीय लोकगीतों में हर युग के रंग, जन-मन की तरंग, सुख-दुख के अर्थ तथा जीवन के चिरनूतन पक्ष विद्यमान हैं, जिन्हें यहाँ की बालायें श्रमसाध्य कार्य करते हुए, हुड़क्या, हुड़के की डुक-डुक पर, जागरी तथा धामी, डौंर-थाली की डिम-डिम पर एवं औजी (ढोलवादक), ढोल-दमों की धिना धिकड़ी-धिना धिकड़ी पर गाते रहते हैं।"[1] यह लोकगीत स्वयं स्फूर्त, सार्वजनिक और सर्वजन की भावना की धरोहर हैं। ये किसी व्यक्ति विशेष के न होकर, सबके होते हैं। इनकी रचना भी सामूहिक होती है तथा जन-जन की आत्मा से जुड़े होने के कारण ये जन-सामान्य की अनुभूति की हृदयस्पर्शी विरासत होते हैं ।

आरम्भ से ही 'संगीत' की दो धाराएँ ही रही हैं, एक मार्गी व दूसरी देशी। मार्गी संगीत वह है जिसका आविष्कार ब्रहमादि देवताओं ने किया तथा जिसका प्रस्तुतीकरण भरत आदि ऋषियों ने भगवान शम्भु के समक्ष किया। देशी संगीत को दूसरी ओर अलग-अलग देशों में लोगों की अभिरुचियों

के अनुकूल मन का रंजन करने वाला गीत कहा गया। यही देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि 'लोक संगीत' कहलाई जो लोक के द्वारा, लोक के लिए व लोक का रंजन करती है। लोक संगीत किसी भी शास्त्रीय विधान व नियमों पर निर्भर न होकर, व्यक्ति अथवा समान द्वारा गाए- बजाए जाने वाले सहज और सरल गीतों पर आधारित होता है।" ग्राम गीत प्रकृति के उद्‌गार है, इसमें अलंकार नहीं केवल रस है, छन्द नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है।"[2]

"शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत एक वृक्ष की दो शाखाएं हैं। संगीत के इन दोनों प्रकारों की विकास दिशाएं स्वतन्त्र हैं तथा दोनों ही प्रौढ संगीत शैलियों के दो विकसित रूप हैं। शास्त्रीय संगीत के प्रेरणा स्रोत व्यक्ति एवं शास्त्र हैं। लोक संगीत का प्रेरणा स्त्रोत जनमानस है। उसका विकास और संचरण क्षेत्र अधिक विस्तृत है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग और परीक्षण के लिए शास्त्र ज्ञान तथा विशिष्ट अभ्यास की आवश्यकता है, परन्तु लोक - संगीत के प्रयोग के लिए किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक सधना का प्रतीक है तथा लोक संगीत सामुदायिक साधना है। दोनों ही स्वरूप एक साथ अंकुरित एवं विकसित हुए और दोनों ही एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं।"[3] आधुनिक विद्वानों के अनुसार लोक संगीत को ही शास्त्रीय संगीत का आधार माना गया है। शास्त्रीय रागों की आधारशिला भी लोक धुनों में ही निहित है। गढ़वाली लोकगीतों में भी शास्त्रीय संगीत के तत्व अशंतः विद्यमान हैं।

गढ़वाल क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के लोकगीतों का प्रचलन है जो अपनी शैली, विषय-वस्तु, रस, उपलब्धि और तकनीकी कला पर आधारित है जैसे-

1. संस्कार गीत (मांगल पूजा, आहवान तथा विवाह गीत)
2. झूमैलो (वेदना तथा प्रेमाभिव्यक्ति के गीत)
3. देवी-देवता (स्तुति गीत)
4. ऋतु सम्बन्धी गीत
5. तन्त्र मन्त्र के गीत
6. सामुहिक गीत
7. कृषि गीत
8. थड्या गीत (लोक गाथायें)
9. बाजूबंद (गीतात्मक संवाद)
10. छोपती गीत (संयोग तथा शृंगार गीत)

शास्त्रीय संगीत का मुख्य स्तंभ राग-तत्व है और प्रत्येक राग का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है। किसी राग में प्रयुक्त होने वाले असंख्य स्वर-समूहों में से कुछ गिने-चुने समूह ही सर्वाधिक कर्णप्रिय और मनमोहक होते हैं। अन्य स्वर-सूमूह का कार्य केवल उस राग के प्रभाव को बढ़ाना तथा उसकी विशिष्टता को प्रतिष्ठित करना है। गढ़वाल क्षेत्र के अधिकांश लोकगीतों में चार अथवा पांच स्वरों का प्रयोग अधिक प्राप्त होता है जिसमें निबद्ध है (सुर-ताल से बंधे) एवं अनिबद्ध (मुक्त), दोनों ही शैलियों के गीत दृष्टिगोचर होते हैं। इन गढ़वाली लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत के विभिन्न राग जैसे दुर्गा, सारंग, भूपाली, पहाड़ी, केदार, मालकौन्स, जोग, मिश्र खमाज, भीमपलासी, दरबारी, काफी आदि जैसे रागों का समावेश किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। इन लोकगीतों में शब्द सदा ताल एवं लय का अनुसरण करते हैं। इसके परिणामस्वरूप, उनके अनुकूल ही उनमें निश्चित रूप से वर्णों और मात्राओं का तालमेल अपने आप हो जाता है। यह संतुलन गीतकार के भाव, आवाज़ और नृत्य से सिद्ध होता है। संस्कार, स्मृति और बार-बार दोहराने के कारण ताल तथा लय खुद ही छंद का रूप ले लेते हैं। ताल और लय को सुनने वाला तथा श्रोता एवं गायक एक अखंड प्रवाह के रुप में स्वीकार करता है। लय और छंद की निरंतरता ही इन लोकगीतों की मुख्य विशेषता है। लय प्रदर्शन हेतु गेल, दमाऊ, नक्काश खंजरी, हुड़का, डमरू, लकड़ी की डंडिया घड़ा, थाली, मिट्टी के नाना विध पात्र, हाथों की ताली, तुम्बी इकतारा और अनेक प्रकार के छोटे-बड़े अवनद्ध वाघ आदि का प्रयोग किया जाता है।

"लय का महत्त्व सर्वथा समान है। लय विहीनता, सर्वथा अक्षम्य होती है। भरत की ताल सम्बन्धी उक्ति लोकसंगीत पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है-

'यस्तु तालं न जानाति न स-गाता न वादक : ।'

अर्थात जिसे ताल का ज्ञान नहीं वह न गायक है न वादक। ताल की अज्ञानता लोकसंगीत में भी सर्वथा अक्षम्य दोष है।"[4]

"गढ़वाल क्षेत्र के अधिकांश लोकगीत नृत्यों के साथ गाये जाते हैं। " डॉ. गोविन्द चातक के अनुसार गढ़वाली लोकगीतों की शैली में एक सूत्रता नहीं प्राप्त होती। वस्तुतः प्रत्येक वर्ग के गीतों की अपनी पृथक शैली होती है किन्तु स्थूल रूप में प्रबन्धात्मक, वर्णात्मक तथा भावात्मक नामों के अन्तर्गत उसे रखा जा सकता है। प्रबन्ध गीत में कथात्मक अथवा प्रबन्धात्मक शैली के दर्शन होते हैं। बहुधा इन गीतों का प्रारम्भ मंगलाचरण के साथ होता है।"[5] अधिकांश गीतों में वर्णनात्मक शैली दिखाई देती है। समसामयिक प्रसंगों, आंदोलनों एवं पारम्परिक अनुष्ठानों से जुड़े गीतों में विवरण की प्रधानता रहती है। फिर भी, किसी बात या घटना को सीधे व्यक्त करने की अपेक्षा उसे वक्रोक्ति (घुमा-फिराकर) से कहने की प्रवृत्ति प्रायः मिलती है। इस कोटि की शैली में विवरण का प्रवाह इतना तीव्र और हल्का होता है कि किसी एक विशेष भाव की स्थिरता वातावरण का निर्माण नहीं कर पाती। वहीं भावात्मक शैली में छोपती, बाजूबन्द, लामण और खुदेड़ जैसे गीत आते हैं जिनमें प्रेम के सम्वाद दृष्टिगोचर होते हैं।

हमारी भारतीय धर्म भावना की यह प्राचीन परम्परा रही है कि किसी भी शुभ कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व देवी-देवताओं का आह्वान और आर्शिवाद प्राप्त किया जाता है। विवाह संस्कारों जैसे शुभ अवसरों पर गढ़वाल में मांगल गीत गाये जाते हैं जो विवाह की विभिन्न क्रियाओं व अनुष्ठानों से सम्बन्धित होते हैं तथा वर-वधु दोनों के घर इनका गायन होता है। उनकी गायिकाएं या तो कुलवधुएं होती हैं या आवजी-वादकों की कुल लक्षमियाँ, जिन्हें 'मंगल्यारी कहा जाता है। एक मांगल गीत इस प्रकार है-

मांगल गीत (आवाह्य गीत)

"बोल कागा - चौ दिशा सगुनो, त्वै धूलो कागा मैं दूद भाती,
बोल कागा चौदिशी सगुनो, त्वै द्यूलो कागा दही भात पूड़ी,
रूप की ठोंटणि, तू चौदिशी सगुन भेज।"[6]

भावार्थ- प्रस्तुत मांगल गीत राग दुर्गा पर आधारित है जो अनिबद्ध शैली में गाया जाता है। इस मांगल गीत में 'सगुन' बोलने के लिए कौवे अर्थात कागा को बुलाया जा रहा है कि तू हमारे यहां आ और चारों दिशाओं में सगुन फैला। हम तुझे दूध, भात और पूड़ी देगें।

राग दुर्गा पर आधारित मांगल (अनिबद्ध गायन)

रे – म म ध प - - - - - -
बो ऽ ल का ऽ गा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
ध - प मरे म - ध प - - - - - -
चौ ऽ दि शी ऽ स ऽ गु न ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
मरे - म मप - मरे - - - - - - - -
बौ ऽ ऽ ल का ऽ ऽ गा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
प - मरे रेम म प म - - - - - - -
चौ ऽ ऽ दि ऽ शीऽ स ऽ गु न ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

शेष सभी पंक्तियाँ इसी धुन पर आधारित हैं। इस गीत के अन्तर्गत रे म प ध, इन चार स्वरों की प्राप्ति होती है जो राग दुर्गा के समीपस्थ दृष्टिगोचर होते हैं। इस गीत के साथ ढोल-दमाऊँ अपनी स्वतन्त्र लय में बजते हैं।

छोपती गीत

"पोसतू का छुमा, मेरी भग्यानी बौ,
आज की छोपती, मेरी भग्यानी बौ।
रातू का सुपिना मेरी भग्यानी बौ

SWAR SINDHU
(National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music)
ISSN 2320–7175 (O) । Volume 14, Issue 01, January-June, 2026

दिन आँख्यूँ रींगी, मेरी भग्यानी बौ ।"[7]

भावार्थ :- इस छोपती गीत में सौभाग्यवती (भग्यानी बौ) एक टेक है जिसे हर पंक्ति के साथ दोहराया गया है। इस गीत में नायिका के प्रति अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित हुआ है कि प्रिय, तुम रात में स्वप्न में दिखाई देती हो और दिन में आँखों में ही बसी रहती हो। इस गीत में संयोग श्रृंगार और मिलन के सुख-दुख का वर्णन प्राप्त होता है।

राग जोग-कौंस पर आधारित **ताल- दादरा (द्रुतलय)**

	ग		ग		
"सा - सा	म – म	म – म	सा – सा	ग - -	सा – नी
पो ऽ स	तु ऽ की	छु ऽ मा	मे ऽ री	भ ऽ ऽ	ग्या ऽ नी
x	o	x	o	x	o
सा - -	नी प -	प - प	नी – सा	सा - सा	- - -
बौ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ	पो ऽ सा	तु ऽ की	छु ऽ मा	ऽ ऽ ऽ"[8]
x	o	x	o	x	o

शेष सभी पंक्तियाँ भी इसी धुन पर आधारित हैं। इस गीत में हमें सा म ग सा नी सा स्वरावली प्राप्त होती है जिसमें राग जोग-कौंस की छाया दर्शित होती है। इसमें दादरा ताल द्रुतलय में प्रयुक्त हुई है।

बाजूबन्द: गीत

"गंज्याली को गांज,
वल्या छाला ऐली भाना रेली द्यूलो बांज ।
भाना ए रंगीली भांना रेली द्यूलो बांज ॥
झंगोला की दौऊं,
छोड़ दीदा बाटो म्यारो समणी च गौऊं।
दीदा म्यारा पतरोल समणी च गौऊं ॥"[9]

भावार्थ- यह गीत खरकियों द्वारा गाये जाते है जिनका मुख्य उद्देश्य पशुपालन के साथ-साथ आमोद-प्रमोद तथा उल्लासपूर्ण जीवन यापन करना होता है। यह लोकगीत हुड़की, बंसी और डौंर थाली जैसे वाद्य यन्त्रों के संयोजन के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं।

राग मधमाद सारंग **ताल - रुपक (मध्यलय)**

"रे सा नी	प –	नी सा	रे सा -	सा -	- -
गं ज्या ऽ	ली ऽ	को ऽ	सां ऽ ऽ	ज ऽ	ऽ ऽ
x	2	3	x	2	3
सा रे म	म –	म -	म प म	रे सा	सा -
व ल्या ऽ	छा ऽ	ला ऽ	ऐ ली ऽ	भा ऽ	ना ऽ
x	2	3	x	2	3
रे सा नी	प –	नी सा	रे सा -	सा -	- -
रे ली ऽ	द्यू ऽ	लो ऽ	बां ऽ ऽ	ज ऽ	ऽ ऽ"[10]
x	2	3	x	2	3

शेष सभी पंक्तियाँ इसी धुन में गाई जाएगी। यह गीत राग मधमाद सारंग के समीपस्थ दृष्टिगोचर होता है। ताल की दृष्टि से रूपक ताल मध्यलय में बजाई जाती है।

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से उत्तराखण्ड के गढ़वाली लोकगीतों में निबद्ध एवं अनिबद्ध दोनो शैली के गीत प्राप्त होते है। इनमें हमें शास्त्रीयता की झलक प्राप्त होती है। इन लोकगीतों की धुन अधिकतर पूर्वांग प्रधान है जिनमें मुख्य रूप से 4-5 स्वरों का प्रयोग होता है। यद्यपि कुछ गीतों में पूर्ण सप्तक भी प्रयुक्त होता है। यह लोकधुनें न केवल लयबद्ध व कर्णप्रिय होती है, अपितु इनकी स्वर-रचना में भाव और प्रसंग का सुन्दर सामंजस्य भी दर्शित होता है। इनमें गीत-पंक्ति की बार-बार पुनरावृत्ति की जाती है तथा यह गीत अपने लय व बोलों में परिवर्तन होने के कारण भिन्न होते हैं। इन लोकधुनों में कई रागों की छाया दिखाई देती है तथा राग-विधान के परिप्रेक्ष्य में आध्यात्मिक गीतों की अपेक्षा सामाजिक गीतों में विविधता व राग-रुप दृष्टिगोचर होता है। इन लोकगीतों में राग पहाड़ी, भूपाली, दुर्गा, जोगकौंस, मधमाद सारंग, भीमपलासी, काफी, मालकौंस, मिश्र खमाज आदि जैसे रागों का स्वरूप दर्शीत होता है। साथ ही ताल दादरा, रूपक, कहरवा, एकताल, दीपचन्दी जैसी तालों की संगत-स्वरूप प्राप्त होते हैं जिसका प्रयोग मध्य एवं द्रुत लय में किया जाता है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गढ़वाली लोकगीत शास्त्रीय संगीत का आधार होने के साथ-साथ हमारी संस्कृति एवं संस्कारों के प्रतिबिंब हैं। भारतीय संगीत के अनेक राग लोक संगीत की धुनों से ही निकले हैं जैसे सारंग, पहाड़ी, मांड, काफी आदि। प्रारंम्भिक मानवीय अभिव्यक्ति के रूप में ये लोकगीत जनमानस की दिनचर्या के अभिन्न अंग है, जिनमें शास्त्रीय संगीत के मूल तत्व समाहित है। कुशल संगीतकारों ने इन लोक-धुनों को परिष्कृत कर भारतीय शास्त्रीय संगीत के राग-विधान में सम्मिलित किया है। यह लोकगीत शास्त्रीय संगीत के प्रेरणा स्त्रोत है जिन्हें संरक्षित करना हमारा कर्तव्य है।

सन्दर्भ

1. बलोदी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद. (2015). उत्तराखण्ड समग्र ज्ञानकोश. देहरादून: विनसर पब्लिशिंग कं०, पृस० 274
2. यमन, अशोक कुमार. (2016), संगीत रत्नावली. चण्डीगढ़ / नई दिल्ली : अभिषेक पब्लिकेशन्ज, पृस० 550
3. वही, पृस०578
4. मैठानी, डॉ. तुष्टि. (2006). भारतीय आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में गढ़वाली लोक संगीत. नई दिल्ली: सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, पृस० - 122-123
5. वही, पृस० - 125
6. वही, पृस० - 230
7. बलोदी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद. (2015). उत्तराखण्ड समग्र ज्ञानकोश. देहरादून : विनसर पब्लिशिंग कं, पृस. 278
8. मैठानी, डॉ. तुष्टि. (2006). भारतीय आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में गढ़वाली लोक संगीत. नई दिल्ली: सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, पृस० - 253-254
9. वही, पृस० - 274
10. वही, पृस०-275